त्यागी-संस्था

प्रत्येक समाजमें त्यागी-संस्था

वैदिक, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, जैन आदि आर्य-जातिके समाज लीजिए, या मुसलमान क्रिश्चियन, कोनफ्युश्यस आदि आर्येतर जातिके समाज लीजिए, या भील, कोली, संथाल आदि जंगली या असंस्कृत जातियोंके समाज लीजिए, सबमें धर्मपंथ हैं और प्रत्येक धर्मपंथमें किसी न किसी प्रकारकी त्यागी-संस्था भी है; इसलिए मनुष्यजातिके अस्तित्व और विकासके साथ साथ त्यागी-संस्थाका अस्तित्व और विकास भी अनिवार्य है।

सुधार अनिवार्य

त्यागी-संस्था एक विशेष भूमिकाके बाद उदयमें आती है, उसका भरण-पोषण और प्रवृत्ति-कार्य विशेष संयोगोंमें चलता है। कभी कभी ऐसे संयोग भी उपस्थित होते हैं कि उसमें भ्रष्टाचार अधिक प्रमाणमें प्रविष्ट हो जाता है, उपयोगिताकी अपेक्षा अनुपयोगिताका तत्त्व बढ़ जाता है और वह गिलटी या बकरीके गलेके स्तन जैसी अनुपयोगी भी हो जाती है, तब उसमें फिर सुधार शुरू होता है। यदि सुधारक अधिक अनुभवी और दृढ़ होता है तो वह अपने सुधारके द्वारा उस संस्थाको बचा लेता है। इस तरह संस्थाका अस्तित्व और प्रवृत्ति, उसमें विकार और सुधार, क्रमशः चलते रहते हैं। किसी भी समाज और पंथकी त्यागी संस्थाका इतिहास देख लीजिए वह समय समयपर सुधार दाखिल किये जानेपर ही जीवित रह सकी है। बुद्ध या महावीर, जीसस या मुहम्मद, शंकर या दयानंद समय समयपर आते रहते हैं और अपनी अपनी प्रकृति, परिस्थिति और समझके अनुसार परापूर्वसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चले आनेवाले समाजोंमें सुधारका प्राण फूँकते हैं और तब उनकी त्यागी-संस्थाओंका चक्र आगे चलता है। समय बीतनेपर उस तख्तपर उनके अनुगामी या प्रतिस्पर्धी रूपमें दूसरे पुरुष आते हैं और वे भी अपनी दृष्टिके अनुसार परिवर्तन करके संस्थाओंके कुंठित चक्रोंको वेगवान् और गतिशील बनाते हैं। इसलिए हर एक संस्थाका जीवन टिकाऊ रखनेके लिए सुधार अनिवार्य है। जिसमें सुधार या परिवर्तन नहीं होता, उसका अंतमें नाश या लोप हो जाता है।

जगतमें कभी कभी ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जिनकी समग्र बुद्धि, अखंड पुरुषार्थ और अद्भुत लगन किसी तत्त्वकी शोधके पीछे अथवा किसी कर्तव्यके पालनमें लगे रहते हैं। ये व्यक्ति देह-धारण और पोषणके लिए कुछ जरूरी साधनोंका उपयोग करते हैं फिर भी उनकी आतुरता उस शोध और कर्तव्य-पालनकी ओर होनेके कारण उनकी इच्छा और दिलचस्पीका विषय मुख्यतः वह शोध और वह कर्तव्य ही बन जाता है; और प्रत्यक्ष रूपसे दूसरे साधारण मनुष्योंकी तरह साधनोंका उपयोग करनेपर भी उनकी इच्छा और रसवृत्ति उस उपयोगकी ओर नाम मात्र ही होती है। इन व्यक्तियोंका संपूर्ण लक्ष्य और इच्छा-बल साध्यमें ही लगा रहता है, इसलिए उनका उपभोग कमसे कम, केवल साधन जितना, और किसीको भाररूप या बाधक न हो उतना ही, होता है। उच्च और विशाल ध्येयकी साधना और रसवृत्तिके कारण ऐसे व्यक्तियोंमें विकार, अभिमान, संकुचितता आदि दोष स्थान नहीं पा सकते। इसीलिए ऐसे व्यक्तियोंका जीवन स्वाभाविक रूपसे त्याग-मय होता है। ऐसी एकाध विभूतिके कहीं प्रकट होते ही तुरन्त उसके त्यागकी शीतल छायाका आश्रय प्राप्त करनेके लिए भोग-संतप्त प्राणी उसके आसपास इकट्ठे हो जाते हैं और थोड़े बहुत अंशोंमें उसकी साधनाकी उम्मेदवारी करनेके लिए भीतर या बाहरसे थोड़ा बहुत त्याग स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह काल-क्रमसे एक व्यक्तिके विशिष्ट त्यागके प्रभावसे एकत्र हुए जनसमूहसे एक संस्थाका निर्माण होता है। इसलिए त्यागी-संस्थाके आविर्भावका मूल बीज तो किसी महाविभूतिके त्यागमें ही रहता है।

त्यागी-संस्थाका बीज

जब किसी भी संस्थामें एकसे अधिक व्यक्ति हो जाते हैं तब उसको अपना पालन-पोषण तो करना ही पड़ता है। परन्तु संस्थाके पास प्रारंभमें सामान्य तौरसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई संपत्ति या निश्चित आमदनी नहीं होती, इसलिए उसका पालन-पोषण केवल उसकी प्रतिष्ठासे होता है और प्रतिष्ठा सद्गुणों और जनसमाजके लिए उपयोगी गुणोंपर अवलंबित है। सद्गुणोंकी ख्याति और लोकजीवनके लिए उपयोगी होनेका विश्वास जितने अंशमें अधिक उतने ही अंशमें उसकी प्रतिष्ठा अधिक और जितने अंशमें प्रतिष्ठा अधिक होती है उतने ही अंशमें वह लोगोंकी दान-वृत्तिको अधिक जाग्रत कर सकती है। पालन-पोषणका आधार मुख्य रूपसे प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठाजनित लोगोंकी दानवृत्ति है, इसलिए संस्थाको कुछ नियमोंका कर्तव्य रूपसे पालन करना पड़ता है। पर उन व्रत-नियमोंका पालन करते करते धीरे धीरे वह संस्था नियमोंका एक यंत्र बन जाती है।

गुण और दोष

त्यागी-संस्थामें यदि किसी परिवर्तनका विचार करना हो, तो उसके गुण और दोष तटस्थ रीतिसे देखने चाहिए। उसका सबसे पहला और मुख्य गुण यह है कि वह जिस मूल प्रवर्तक पुरुषके कारण खड़ी होती है, उसके उपदेश, ज्ञान और जीवन-रहस्यकी सुरक्षा करती है। केवल रक्षा ही नहीं, उसके द्वारा उक्त उपदेश आदिमें गंभीरताका विकास होता है और टीका-विवेचनद्वारा एक विशाल और मार्मिक साहित्यका निर्माण होता है। परन्तु साथ ही उसमें एक दोष भी प्रविष्ट होता जाता है और वह है स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थकी कमी। संस्थाके निर्माणके साथ ही उसका एक विधान भी बन जाता है। इस विधानके वर्तुलमें जाने अनजाने जिस नियम-चक्रकी अधीनतामें रहना पड़ता है उसमें निर्भयताका गुण प्रायः दब जाता है और विचार, वाणी तथा वर्तनमें भयका तत्त्व प्रविष्ट होता है। इससे उसके बुद्धिशाली और पुरुषार्थी सभ्य भी अक्सर संस्थाका अंग होनेके कारण अपनी स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थका विकास नहीं कर सकते। उन्हें बाध्य होकर मूलपुरुषके नियत मार्गपर चलना पड़ता है, इसलिए वे बहुत बार अपनी बुद्धि और पुरुषार्थके द्वारा स्वतंत्र सत्यकी शोध करनेमें निष्फल होते हैं। जहाँ संकोच और भय है, वहाँ स्वतंत्र बुद्धि और स्वतंत्र पुरुषार्थके विकास होनेकी संभावना ही नहीं। यदि कोई वैज्ञानिक संकुचित और भयशील वातावरणमें रहता है, तो वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि और पुरुषार्थका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकता। इसलिए शक्तिशाली सभ्य भी त्यागी संस्थामें विचार और ज्ञानविषयक कुछ हिस्सा भले ही अदा कर दें,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल पुरुषके साहित्यमें भी कुछ वृद्धि कर दें, परन्तु कोई स्वतंत्र शोध, मूल पुरुषके मार्ग और संस्थाके वर्तुलसे भिन्न, कर ही नहीं सकते। हम किसी भी संस्थाका इतिहास देखें तो मालूम होगा, कि उसमें जो प्रखर व्याख्याकार और टीकाकार हुए हैं, उन्होंने अपनी टीकाओं और व्याख्याओंमें मूल ग्रन्थकी निर्भय समालोचना शायद ही की है।

त्यागी संस्थाका दूसरा गुण यह है, कि वह लोगोंको मूलपुरुष और उसके अनुगामी अन्य विशिष्ट पुरुषोंकी महत्ताका भान कराती है। लोगोंको ऐसे पुरुषोंका विशेष परिचय मुख्य रूपसे उनकी संस्थाके सभ्योंके द्वारा ही मिलता है। यह एक महान् गुण है, पर इसके साथ ही साथ एक महान् दोष भी प्रविष्ट हो जाता है और वह है अभिमान। अक्सर ये संस्थायें मूल पुरुष और उसके अनुगामी दूसरे विशिष्ट पुरुषोंका महत्त्व देखने, विचारने और कहनेमें इतनी अधिक तल्लीन हो जाती हैं कि उनके विचारचक्षु दूसरे पड़ोसी महान् पुरुषोंकी महत्ताकी ओर शायद ही जा पाते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि इन त्यागी संस्थाओंके बुद्धिशाली गिने जानेवाले सभ्य भी दूसरी संस्थाओंके मूल उत्पादकोंके विषयमें अथवा अन्य विशिष्ट पुरुषोंके विषयमें कुछ भी नहीं जानते, और यदि कुछ जानते हैं तो इतना ही कि हमारे मान्य और अभीष्ट पुरुषोंके सिवाय बाकीके सब अधूरे और त्रुटिपूर्ण हैं। उनमें उदारतासे देखने और निर्भय परीक्षा करनेकी शक्ति शायद ही रह जाती है। इस वातावरणमें एक तरहके अभिमानका पोषण होता है, इसलिए उनकी अपनी संस्थाके सिवाय दूसरी किसी भी संस्थाके असाधारण पुरुषोंकी ओर मान और आदरकी दृष्टिसे देखनेकी वृत्ति उनमें शायद ही रहती है। हजरत ईसाका अनुगामी कृष्णमें और बुद्धका अनुगामी महावीरमें विशेषता देखनेकी वृत्ति खो बैठता है। यही अभिमान आगे बढ़कर दो त्यागी-संस्थाओंके बीच भेद खड़ा कर देता है और एक दूसरेके बीच तिरस्कार और दोषदर्शनकी बुद्धि जाग्रत करता है; परिणामस्वरूप कोई भी दो संस्थाओंके सभ्य परस्पर सच्ची एकता सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसी एकता साधनेके लिए उन्हें अपनी अपनी संस्था छोड़नेके लिए बाध्य होना पड़ता है। यह मिथ्या अभिमान विभिन्न संस्थाओंके सभ्योंके बीच अंतर खड़ा करके ही शान्त नहीं रह जाता, बल्कि और आगे बढ़ता है। और फिर एक ही संस्थाके अनुगामी मुख्य मुख्य आचार्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और उपदेशकोंके बीच भी छोटे-बड़ेकी भावना पैदा करता है, फलस्वरूप एक आचार्य या एक विद्वान् अपनी ही संस्थाके दूसरे आचार्य या दूसरे विद्वान्के साथ बिलकुल निश्छल भाव या स्वतन्त्रतासे हिलमिल नहीं सकता। इस तरह प्रारंभमें भिन्न भिन्न संस्थाओंके बीच मेल करनेमें मिथ्या अभिमान सामने आता है और बादमें क्रमशः एक ही संस्थाके शक्तिशाली मुखियोंके बीच भी संधान नहीं रख सकता, उनमेंसे विनय और नम्रता जैसी वस्तु ही लगभग चली जाती है। जब एक जैन आचार्य दूसरे जैन आचार्यके ही साथ एकरस नहीं हो सकता, तब शंकराचार्य, बौद्ध आचार्य, या किसी पादरी, या मौलवीके साथ किस तरह हो सकेगा ? इस अंतरका कारण ढूँढ़नेपर हम सांप्रदायिकताकी संकुचित भावनाके प्रदेशमें जा पहुँचते हैं।

त्यागी-संस्थाका तीसरा गुण उसके सभ्योंमें त्यागका विकास करना, लोगोंमें दानवृत्ति जगाना या विकास करना बतलाया जाता है। संस्थाके सभ्यके लिए संचय करने जैसी कोई वस्तु नहीं होती, उन्हें ब्याहका बंधन भी नहीं होता, इसलिए उनमें संतोष और त्यागकी वृत्ति इच्छा या अनिच्छासे सुरक्षित रहती और विकसित होती है। इसी तरह इस संस्थाके निर्वाहकी चिन्ता लोगोंमें दानवृत्ति प्रकट करती और उसका विकास करती है। इसलिए ऐसी संस्थाओंसे विशिष्ट व्यक्तियोंमें त्यागका और साधारण लोगोंमें दानवृत्तिका पोषण होता है। इस तरह इस संस्थासे दोहरा लाभ है। पर सूक्ष्मतासे विचार करनेपर इस लाभके पीछे महान् दोष भी छुपा रहता है। वह दोष है आलस, कृत्रिम जीवन और पराश्रय। त्यागी-संस्थाके सब नियम त्याग-लक्षी होते हैं। नियमोंको स्वीकार करनेवाला कोई भी व्यक्ति संस्थामें प्रविष्ट हो सकता है। पर सभी प्रविष्ट होनेवाले सच्चे त्यागी बनकर नहीं आते। उन्हें त्याग तो पसंद होता है, परन्तु प्रारंभमें तैयार सुविधा मिलनेसे, उस सुविधाके लिए किसी तरहका शारीरिक परिश्रम न होनेसे और मनुष्य-स्वभावकी दुर्बलतासे धीरे धीरे वह आभ्यंतरिक त्याग खो जाता है। एक ओर बाध्य होकर अनिच्छापूर्वक त्यागलक्षी दिखनेवाले नियमोंके वशवर्ती होना पड़ता है और दूसरी ओर तैयार मिलनेवाली सुविधासे आलसका पोषण होनेके कारण दूसरोंकी दानवृत्तिके ऊपर अपनी भोगवृत्ति संतुष्ट करनी पड़ती है। इस तरह एक ओर सच्चे त्यागके बिना त्यागी दिखानेका प्रयत्न करना पड़ता है और दूसरी ओर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर-श्रमसे प्राप्त किये हुए साधनोंके बिना ही भोगवृत्ति संतुष्ट करनी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि त्यागी-संस्थाके सभ्यका जीवन कृत्रिम और बेडौल हो जाता है। वे कर्म-प्रवृत्ति और परिश्रमका त्याग करके त्यागी कहलाते हैं; परन्तु दूसरोंके कर्म, दूसरोंकी प्रवृत्ति और दूसरोंके परिश्रमका त्याग बिलकुल नहीं कर सकते। ऐसी स्थितिमें उन्हें लोगोंकी दानवृत्ति बहुत जगानी पड़ती है। दानके लाभ और यशोगानसे परिपूर्ण एक विपुल साहित्यका निर्माण होता है। इसके कारण अशोक और हर्षवर्धन जैसे राजा अपने भण्डार खाली करते हैं और मठों, विहारों और चैत्योंमें प्रचुर आमदनीका प्रवाह जारी रखनेके लिए धनिक दाताओंकी ओरसे दानपत्र उत्कीर्ण किये जाते हैं। जैसे जैसे दानकी महिमा बढ़ती है वैसे वैसे दाता भी बढ़ते हैं और त्यागी-संस्थाका विस्तार भी होता है। जैसे जैसे विस्तार होता है वैसे वैसे आलस और पराश्रय बढ़ता है। इस तरह एक बड़े वर्गको समग्र रूपसे दूसरे वर्गके ऊपर निभना पड़ता है। सूक्ष्मतासे देखने और विचार करनेपर मालूम होता है कि त्यागी गिने जानेवालोंकी आवश्यकताएँ भोगी वर्गकी अपेक्षा शायद ही कम हों। बहुतसे उदाहरणोंमें तो उलटी अधिक होती हैं। एक वर्ग यदि अपने भोगोंमें जरा भी कमी नहीं करता है और उन्हें प्राप्त करनेके लिए स्वयं श्रम भी नहीं करता है, तो स्वाभाविक रूपसे उसका भार दूसरे श्रमजीवी वर्गपर पड़ता है। इसलिए जितने परिमाणमें एक वर्ग आलसी और स्वश्रमहीन होता है, उतने ही परिमाणमें दूसरे वर्गपर श्रमका भार बढ़ जाता है। दानवृत्तिपर निभनेसे जिस प्रकार आलसका प्रवेश होता है और त्यागकी ओटमें भोग पोषा जाता है, उसी तरह एक भारी क्षुद्रता भी आती है। जब एक त्यागी दानकी महत्ताका वर्णन करता है तब वह सीधे या घुमा फिराकर लोगोंके दिलमें यह ठसानेका प्रयत्न करता है कि उसकी संस्था ही विशेष दानपात्र है और अक्सर वह क्षुद्रता इस सीमा तक पहुँच जाती है, कि उसकी युक्तियोंके अनुसार उसे छोड़कर दूसरे किसी व्यक्तिको दान देनेसे परिपूर्ण फल नहीं मिलता। इस तरह इन संस्थाओंके द्वारा त्याग और दानवृत्तिके बदले वस्तुतः अकर्मण्यता, क्षुद्रता और लोभ-लालचका पोषण होता है।

त्यागी जीवनमें कमाने और उड़ानेकी चिंता न होनेसे वह किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी समय, किसी भी तरहकी लोकसेवाके लिए स्वतन्त्र रह सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके सिवाय उसके पास ज्ञान और शिक्षाके किसी भी प्रदेशमें काम करने लायक शक्ति व्यर्थ पड़ी रहती है। उसे अपने जीवनमें सद्गुणोंका विकास करने और लोगोंमें उन्हें प्रविष्ट करानेकी भी पूरी सरलता होती है। इसे त्यागी संस्थाका एक बड़ेसे बड़ा गुण गिना जा सकता है। परंतु त्यागीके जीवनमें एक ऐसी चीज़ दाखिल हो जाती है कि जिसके कारण इन गुणोंके विकासकी बात तो एक ओर धरी रह जाती है, उसकी जगह कई महान् दोष आ जाते हैं। वह चीज़ है अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवन। सामान्य रूपसे तो त्यागी कहे और माने जानेवाले सभी व्यक्ति अनुत्तरदायी होते हैं। बहुत बार ऐसा आभास तो होता है कि ये लोग जिस संस्थाके अंग होते हैं उसके प्रति अथवा गुरु आदि वृद्धजनोंके प्रति उत्तरदायी होते हैं परंतु कुछ गहरे उतर कर देखनेपर स्पष्ट मालूम होता है कि उनका यह उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नाम मात्रको ही होता है। उनका न तो ज्ञानप्रेरित उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन होता है और न मोहप्रेरित। यदि कोई गृहस्थ समयपर काम नहीं करता है, धरोहर रखनेवाले या सहायता पहुँचानेवालेको उचित जवाब नहीं देता है, या किसीके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता है, तो उसकी न तो साख बँधती है, न निर्वाह होता है, न रुपये मिलते हैं और न उसे कोई कन्या ही देता है। परंतु त्यागी तो निर्मोही कहलाते हैं, इसलिए वे ऐसी मोहजनित जिम्मेदारी अपने सिरपर लेनेके लिए क्यों तैयार हों? अब बची ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी, सो ये त्यागी अपना जितना समय बर्बाद करते हैं, जितनी शक्ति व्यर्थ खोते हैं और भक्तों तथा अनुगामियोंकी ओरसे प्राप्त सुविधाको जितना नष्ट करते हैं, वह ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी होने पर जरा भी संभव नहीं है। जिसमें ज्ञानप्रेरित जिम्मेदारी होती है वह एक भी क्षण व्यर्थ नहीं खो सकता, अपनी थोड़ी-सी भी शक्तिके उपयोगको विरुद्ध दिशामें जाते सहन नहीं कर सकता और किसी दूसरेके द्वारा प्राप्त हुई सुविधाका उपयोग तो उसे चिंताग्रस्त कर देता है। परंतु हम त्यागी-संस्थामें यह वस्तु सामान्य रूपसे नहीं देख सकते। अनुत्तरदायित्वपूर्ण जीवनके कारण उनमें अनाचारका एक महान् दोष प्रविष्ट हो जाता है। सौ गृहस्थ और सौ त्यागियोंका आन्तरिक जीवन देखा जाय, तो गृहस्थोंकी अपेक्षा त्यागियोंके जीवनमें ही अधिक भ्रष्टाचार मिलेगा। गृहस्थोंमें जो अनाचार परिमित होता है, परन्तु त्यागियोंमें अपरिमित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे रमते राम होते हैं और जहाँ तहाँ अपने आचरणकी छूत लगाते फिरते हैं। इसलिए लोगोंमें उनके द्वारा सद्गुणोंके बदले दोषोंका ही पोषण होता है। त्यागी-संस्थाको अपना निर्वाह करनेके लिए लोकश्रद्धापर ही आश्रित रहना पड़ता है और उसके ठोस न होनेके कारण लोगोंको जाने अनजाने वहम, और अन्धश्रद्धाका पोषण करनेके लिए बाध्य होना पड़ता है। इस तरह इस निश्चिन्त और बे जिम्मेदार जीवनमें दोषोंकी परंपरा चलती रहती है।

उपाय

त्यागी संस्थामें गुणोंका प्रमाण कम होनेपर भी यदि दोष दूर किये जा सकते हैं और गुणोंका प्रमाण बढ़ाया जा सकता है, तो बिलकुल नष्ट करनेकी अपेक्षा उसमें योग्य परिवर्तन करना ठीक होगा। अब यह देखना चाहिए कि यह सब कैसे हो सकता है? मनुष्य अपने अनुभव और बुद्धिके अनुसार ही रास्ता बता सकता है और यदि उसकी अपेक्षा कोई अच्छा रास्ता अनुभवमें आ जाय अथवा उसे कोई बतलानेवाला मिल जाय, तो उस रास्तेपर जमकर बैठ रहनेका आग्रह भी नहीं रखता। अब तो इसका परिवर्तन सेवक-संस्थामें होना चाहिए। त्यागका असली अर्थ विस्मृत हो जाने और त्यागीको मिलनेवाली सुविधामें उसका स्थान दब जानेके कारण, जब कोई त्यागी भक्तोंमें, लोगोंमें, समाजमें या किसी स्थलपर जाता है, तब वह अपनेको सबका गुरु मान कर आदर-सत्कार और मान-प्रतिष्ठाकी आकांक्षा रखता है। यह आकांक्षा उसे घमंडी बना देती है और राजगद्दीके वारिस राजकुमारकी तरह उसे साधारण लोगोंसे नम्रतापूर्वक मिलनेसे रोकती है। इसलिए हर एक त्यागी-संस्थाको अब सेवक-संस्था बन जाना चाहिए, जिसका हर एक सभ्य अपनेको त्यागी नहीं, सेवक समझे और दूसरोंके दिलमें भी यह भावना ठसा दे। लोग भी उसे सेवक ही समझें, गुरु नहीं। अपनेको सेवक माननेपर और अपने व्यवहारके द्वारा भी दूसरोंके सामने सेवक रूपसे हाजिर होनेपर अभिमानका भाव अपने आप नष्ट हो जाता है, तथा लोगोंके कंधों या सिरपर चढ़नेका प्रश्न न रहनेसे भोगका परिमाण भी अपने आप कम हो जाता है और परिमाणके कम होनेपर दूसरे अनेक दोष बढ़ते हुए रुक जाते हैं। इस बातमें कोई तथ्य नहीं कि स्वश्रमसे निर्वाहयोग्य अर्जन करनेसे समयाभावके कारण कम सेवा होगी। हिसाब लगाकर देखनेपर स्वश्रमसे दूसरोंकी अधिक ही सेवा होगी। अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भार दूसरोंपर नहीं लादना, यह कुछ कम सेवा नहीं है। सेवककी आवश्यकता दूसरोंकी अपेक्षा कम होती है, उसे निर्वाहयोग्य अर्जन करनेमें अपना सारा समय नहीं लगाना पड़ता, इसलिए उसके लिए बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी अधिक कीमती होता है, और इसे कोई बिलकुल छोटी सेवा नहीं कह सकता कि उनके द्वारा लोगोंको जातमेहनत (स्वावलम्बन) और सादगीका पदार्थ-पाठ मिलता है। इसलिए त्यागी-संस्थाका सारा परिवर्तन स्वश्रमसे निर्वाह करनेकी नींवपर होना चाहिए। त्यागी होनेकी योग्यताकी पहली शर्त स्वश्रम ही होना चाहिए, न कि दानवृत्तिपर निभना। और अपनेको सेवक रूपसे पहचान करानेमें उसे किसी संकोच या लज्जाका अनुभव न करना चाहिए।

परिवर्तनकी नींव

त्यागी-संस्थाको केवल सेवक-संस्था नाम दे देनेसे अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता और थोड़ा बहुत परिवर्तन हो जानेपर भी उसमें दोषोंका आना नहीं रुक सकता। इसके लिए तो तत्त्वमें ही परिवर्तन होना चाहिए। आज लगभग सभी त्यागी-संस्थाएँ सच्चे उत्तरदायित्वसे रहित हैं और उसके कारण ही वे व्यर्थ अथवा हानिकर हो गई हैं। इसलिए उसमें सेवक नामके साथ उत्तर-दायित्वका तत्त्व भी प्रविष्ट होना चाहिए और यह स्वश्रमसे निर्वाह करनेका उत्तरदायित्व जहाँ जीवनमें प्रविष्ट हुआ वहाँ दूसरोंकी सुविधाका उपभोग करनेके बदले आवश्यकता पड़ने पर लोगोंकी पगचंपी तक करनेका अपने आप मन हो जायगा और लोग भी उसके पाससे ऐसी सेवा स्वीकार करते समय हिचकिचाहटका अनुभव नहीं करेंगे। त्यागका अर्थ समझा जाता है घर-कुटुंबादि छोड़कर अलग हो जाना। इतना करते ही वह अपनेको त्यागी मान लेता है और दूसरे भी उसे त्यागी समझ बैठते हैं। परंतु त्यागके पीछे सच्चा कर्तव्य क्या है इसे न तो वह खुद देखता है और न लोग देखते हैं, जब कि सेवामें इससे उलटा है। सेवाका अर्थ किसीका त्याग नहीं किन्तु सबके संबन्धकी रक्षा करना और इस रक्षामें दूसरोंकी शक्ति और सुविधाका उपयोग करनेकी अपेक्षा अपनी ही शक्ति, चतुराई और सुविधाका दूसरोंके लिए उपयोग करना है। सेवा किये विना सेवक कहलानेसे लोग उससे जवाब तलब करेंगे, इसलिए वहाँ अधिक पोल नहीं चल सकेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवक संस्थाका विधान

(१) सेवक-संस्थामें प्रविष्ट होनेवाला सभ्य—स्त्री या पुरुष विवाहित हो या अविवाहित—उसे ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना चाहिए।

(२) हर एक सभ्यको अपनी आवश्यकतानुसार स्वश्रमसे ही पैदा करने वाला और स्वश्रम करनेके लिए तैयार होना चाहिए।

(३) हर एक सभ्यको अपने समय और काम-काजके विषयमें संस्थाके व्यवस्थापक-मण्डलकी अधीनतामें रहना चाहिए। वह अपने प्रत्येक क्षणका हिसाब इस मंडलके सामने रखनेके लिए बँधा हुआ होना चाहिए।

(४) कमसे कम दिनके दस घंटे काम करनेके लिए बँधे हुए होना चाहिए, जिनमें कि उसके निर्वाहयोग्य स्वश्रमका समावेश होता है।

(५) रुचि, शक्ति और परिस्थिति देखकर कार्यवाहक मंडल उसे जिस कामके लिए पसंद करे, उसीको पूरा करनेके लिए तैयार रहना चाहिए।

(६) वह अपने किसी भी मित्र, भक्त या स्नेहीकी किसी भी तरहकी भेट खुद नहीं ले, यदि कुछ मिले तो उसे कार्यवाहक मंडलको सौंपनेके लिए प्रतिज्ञाबद्ध रहे और बीमारी या लाचारीके समय मंडल उसका निर्वाह करे।

(७) जब त्याग और अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करनेकी वृत्ति कम हो जाय तब वह कार्यवाहक मंडलसे छुट्टी लेकर अलग हो सके, फिर भी जब तक उसका नैतिक जीवन बराबर हो तब तक उसकी त्यागी और सेवकके समान ही प्रतिष्ठा की जाय।

(८) जो सभ्य क्लेश और कलह करता हो वह खुद ही संस्थासे अलग हो जाय, नहीं तो मंडलकी सूचनानुसार वह मुक्त होनेके लिए बँधा हुआ है।

(९) कोई भी संस्था अपनेको ऊँची और दूसरीको नीची या हलकी न कहे; सब अपनी अपनी समझ और रीतिके अनुसार काम करते जायँ और दूसरोंकी ओर आदर-वृत्तिका विकास करें।

(१०) समय समयपर एक संस्थाके सभ्य दूसरी संस्थामें जायँ और वहाँके विशिष्ट अनुभवोंका लाभ लेकर उन्हें अपनी संस्थामें दाखिल करें। इस तरह भिन्न भिन्न संस्थाओंके बीच भेदके तत्त्वका प्रवेश रोककर एक दूसरेके अधिक निकट आ जावें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकान्त त्यागकी रक्षा

अभी तक जो कुछ विचार किया गया है वह त्यागको सक्रिय सेवायुक्त अथवा त्यागी-संस्थाको विशेष उपयोगी बनानेके लिए। परंतु यहाँपर प्रश्न होता है कि जिस त्यागमें प्रत्यक्ष सेवाका समावेश तो नहीं होता, फिर भी वह सच्चा होता है उस एकान्त त्यागकी रक्षा शक्य है या नहीं ? और यदि शक्य है तो किस तरह ? क्यों कि जब सब त्यागियोंके लिए सेवाका विधान अनिवार्य हो जाता है तब हर एक त्यागीके लिए लोकसमुदायमें रहने और उसमें हिलने-मिलने तथा अपनेपर कामकी जिम्मेदारी लेनेकी अवश्यकता हो जाती है। ऐसा होनेपर एकान्त त्याग जैसी वस्तुके लिए आवकाश ही कहाँ रहता है ? यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐसे त्यागकी जरूरत ही क्या है ? क्योंकि यदि किसीमें सचमुचका त्याग होता है और उस त्यागके द्वारा वह व्यक्ति किसी शोधमें लगा होता है, तो क्या उस त्यागके द्वारा किसी महान् परिणामके आनेकी संभावना है ? उत्तर इतना ही है कि मनुष्य-जातिको ऐसे एकान्त त्यागकी भी जरूरत है और इस त्यागकी रक्षा भी शक्य है। ऐसे त्यागको ऊपरके विधानोंसे तथा व्यवस्थाके नियमोंसे कुछ भी बाधा नहीं पहुँचती; क्योंकि संस्थामें रहनेवाले सभ्योंके त्यागमें और ऐसे त्यागमें महान् अंतर होता है। एकान्त त्यागमें ज्ञानप्रेरित उत्तर-दायित्व होनेसे उसमें दोषके लिए बिलकुल अवकाश नहीं है और यदि भूल चूकसे किसी दोषकी संभावना हो भी, तो उसके लिए किसीकी अपेक्षा अधिक सावधानी तो उस त्यागको स्वीकार करनेवालेकी होती है। इसलिए ऐसे एकान्त त्यागको बाह्य नियमनकी कुछ जरूरत नहीं रहती। उलटा ऐसा त्याग धारण करनेवाला चाहे वह बुद्ध हो या महावीर, मनुष्य-जाति और प्राणी-मात्रके कल्याणकी शोधके पीछे निरंतर लगा रहता है। उसको अपनी साधनामें लोकाश्रयकी अपेक्षा जंगलका आश्रय ही अधिक सहायक सिद्ध होता है और साधनाके समाप्त होते ही वह उसका परिणाम लोगोंके समक्ष रखनेके लिए तत्पर होता है। इसलिए जो एकान्त त्यागकी शक्ति रखते हैं उनके लिए तो उनका अन्तरात्मा ही सबसे बड़ा नियन्ता है। इसलिए इस परिवर्तन और इस विधानके नियमोंके कारण ऐसे एकान्त त्याग और उसके परिणामको किसी भी तरहकी बाधा नहीं पहुँचती। साधारण आदमी जो कि एकान्त त्याग और पूर्ण त्यागका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप नहीं समझते और अपने ऊपर किसी भी तरहका नियंत्रण आनेपर असंतुष्ट होते हैं, अनेक बार तर्क करते हैं कि यदि स्वश्रम और दूसरे अनेक जिम्मेदारीके नियमन लादे जायँगे, तो बुद्ध और महावीर जैसे त्यागी किस तरह होंगे और जगतको कौन अपनी महान् शोधकी विरासत सौंपेगा ? उन्हें समझना चाहिए कि आजकलका जगत् हजारों वर्ष पहलेका जगत् नहीं है। आजका संसार अनेक तरहके अनुभव प्राप्त कर चुका है, उसने अपनी शोधके बाद यह भली भाँति देख लिया है कि जीवनकी शुद्धि और ज्ञानकी शोध करनेमें स्वश्रम या जिम्मेदारीके बंधन बाधक नहीं होते। यदि वे बाधक होते तो इस जगतमें जो सैकड़ों अद्भुत वैज्ञानिक और शोधक हुए हैं, और गाँधीजी जैसे नररत्न हुए हैं, वे कभी न होते। एकान्त त्यागीको संस्थाकी सुविधा अथवा लोगोंकी सेवा लेनेकी भी भूख या तृष्णा नहीं होती। वह तो आप-बल और सर्वस्व त्यागके ऊपर ही जूझता है। इसलिए यदि ऐसा कोई विरल व्यक्ति होगा तो वह अपने आप ही अपना मार्ग ढूँढ़ लेगा। उसके लिए किसी भी तरहका विधान या नियम व्यर्थ है। वैसा आदमी तो स्वयं ही नियमरूप होता है। अनेक बार उसे दूसरोंका मार्गदर्शन, दूसरोंकी मदद और दूसरोंका नियमन असह्य हो जाता है। जैसे उसके लिए बाह्य नियंत्रण बाधक होता है, उसी तरह साधारण कोटिके त्यागी उम्मेदवारोंको बाह्य नियंत्रण और मार्गदर्शनका अभाव बाधक होता है। इसलिए इन दोनोंके मार्ग भिन्न हैं। एकके लिए जो साधक है वही दूसरेके लिए बाधक। इसलिए प्रस्तुत विचार केवल लोकाश्रित त्यागी-संस्था तक ही सीमित है।

जैन त्यागी-संस्था और स्वश्रम

दूसरी किसी भी त्यागी संस्थाकी अपेक्षा जैन-त्यागी-संस्था अपनेको अधिक त्यागी और उन्नत मानती है और दूसरे भी ऐसा ही समझते हैं। इसलिए उसे ही सबसे पहले और सबसे अधिक यह स्वश्रमका सिद्धान्त अपनाना चाहिए। यह प्रस्ताव और यह विचार अनेकोंको केवल आश्चर्यान्वित ही नहीं करेगा, उनके हृदयमें क्रोध और आवेश भी उत्पन्न कर सकता है। क्योंकि परंपरासे उन्हें इस भावनाकी विरासत मिली है और वे प्रामाणिक रूपसे यह मानते हैं कि जैन साधु दुनियासे पर है, उसका केवल आध्यात्मिक जीवन है, और सारे ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काम-काज और उद्योग बंधनकारक होनेसे उसके लिए त्याज्य हैं। इसलिए जैन साधुपर स्वश्रमका सिद्धान्त किस तरह लागू हो सकता है ? सिद्धान्तके लागू करने पर उसका आध्यात्मिक जीवन, उसका संसारत्याग, और उसका निर्लेपत्व किस तरह सुरक्षित रह सकता है ? ऐसी शंका होना सहज है। परन्तु प्राचीन जैन-परंपरा, जैन त्यागका मर्म, जैन शास्त्र, जैन इतिहास तथा आधुनिक देशकालके संयोग और साधु समाजकी स्थितिपर विचार करनेके बाद मुझे स्पष्ट लगता है कि स्वश्रमका तत्त्व ऊपर ऊपरसे देखनेपर भले ही विरुद्ध लगता हो, फिर भी तत्त्व दृष्टिसे उसका जैन-त्याग और जैन-सिद्धान्तके साथ संपूर्ण रूपसे मेल बैठ जाता है।

क्या कोई यह दावा कर सकता है कि आजकलका जैन साधु-समाज आध्यात्मिक है ? यदि वह आध्यात्मिक है, तो क्या इस समाजमें दूसरे समाजोंकी अपेक्षा अधिक क्लेश, कलह, पक्षापक्षी, तुच्छता, अभिमान, स्वार्थ और डरपोकपन, इत्यादि दोष निभ सकते ? क्या कोई यह सिद्ध करनेका साहस करता है कि आजकलका जैन साधु देशकालको जाननेवाला और व्यवहारकुशल है ? यदि ऐसा है तो हजारोंकी संख्यामें साधुओंके होनेपर भी जैनसमाज पिछड़ा हुआ क्यों है ? और स्वयं साधु लोग एक तुच्छ व्यक्तिकी तरह सिर्फ भक्तोंकी दयापर क्यों जीवित हैं ? इतने बड़े साधु-समाजको रखनेवाला और उसका भक्तिपूर्वक पालन पोषण करनेवाला जैन समाज संगठन या आरोग्य, साहित्यप्रचार या साहित्यरक्षा, शिक्षण या उद्योग, सामाजिक सुधार या राजनीति आदि बातोंमें सबसे पीछे क्यों है ? सच तो यह है कि जैन साधु अपनेको त्यागी समझता है और कहता है, लोग भी उसे त्यागी रूपसे ही पहचानते हैं परन्तु उसका त्याग सिर्फ कर्म-क्रिया और स्वश्रमका त्याग है, उसके फल अर्थात् भोगका त्याग नहीं। वह जितने अंशमें स्वश्रम नहीं करता, उतने ही अंशमें दूसरोंकी मेहनत और दूसरोंकी सेवाका अधिकाधिक भोग करता है। वह यदि त्यागी है तो सिर्फ परिश्रम-त्यागी है, भोग या फलका त्यागी नहीं। फिर भी जैन साधु अपनेको भोगी नहीं मानता है, दूसरे लोग भी नहीं मानते। क्योंकि लोग समझते हैं कि यह तो अपना घर-बार और उद्योग-धंधा छोड़कर बैठा है। इस दृष्टिसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि आप इसे त्यागी कहना चाहें भोगी नहीं, तो इसमें मेरा विरोध नहीं है। परन्तु जो स्वश्रमका त्याग करता है और दूसरेके श्रमका फल अंगीकार किये विना क्षण मात्र भी जीवित नहीं रह सकता अथवा जिस एकके जीवनके लिए दूसरे अनेकोंको अनिवार्य रूपसे परिश्रम करना पड़ता है, उसे त्यागी कहना चाहिए या सबसे अधिक भोगी ?

भगवानका त्याग कर्म मात्रका त्याग था। साथ ही साथ उसमें फलका और दूसरोंकी सेवाका भी त्याग था। भगवानका वह त्याग आज यदि संभव नहीं है, तो उसे अनुसरण करनेका मार्ग भी अब भिन्न बनाये विना काम नहीं चल सकता। आजकलका दिगम्बरत्व प्रासादों और भवनोंमें प्रतिष्ठा पा रहा है। परन्तु भगवानकी नग्नत्व जंगलमें पैदा हुआ और वहाँ ही शोभित हुआ। उन्हें आजकलके साधुओंकी तरह दिनमें तीन बार खानेकी और तैल मर्दन करानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। पर आजकल स्थिति इतनी अधिक बदल गई है कि जैन साधु-संस्था आध्यात्मिक क्षेत्रसे बिलकुल ही अलग हो गई है, यहाँ तक कि व्यवहार-कुशलताकी भूमिकापर भी स्थित नहीं है; वह तो केवल आर्थिक स्पर्धाके क्षेत्रमें स्थित है। भगवानका सिद्धान्त है कि हम जैसे अन्तरमें हों वैसे ही बाहरसे दिखाई दें। यदि जीवनमें त्याग हो, तो त्यागी कहलाना और भोगवृत्ति हो तो भोगी रूपसे रहना। आजकलका साधु-समाज न तो भोगी है, क्योंकि वह स्वतंत्रताके साथ गृहस्थोंकी तरह अपने परिश्रमके ऊपर भोग-जीवन नहीं व्यतीत करता और न त्यागी है; क्योंकि उसके आंतरिक लक्षण त्यागसे बिलकुल विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति होनेपर भी वह भोगीकी तरह मुख्य मुख्य सुविधाओंको छोड़े विना ही अपनी त्यागीके रूपसे पहचान कराता है। इसलिए भगवानके सिद्धान्तका अनुसरण करनेके लिए यदि उसे त्यागी ही रहना है, तो जंगलमें जाना चाहिए। अथवा बसतीके निकट रहना हो तो दूसरोंके श्रमका उपभोग नहीं करना चाहिए और यदि उसे भोगी ही होना है, तो दूसरोंके नहीं अपने ही श्रमके ऊपर होना चाहिए। ऐसा होनेपर ही सच्चे त्यागकी संभावना है।

स्वश्रमसे उत्पन्न की हुई वस्तुका उपभोग करनेसे अनेक बार अधिकसे अधिक त्याग होता है। जीवनमें वैसा त्याग अनिवार्य है। स्वश्रमसे तैयार किये हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कपड़े दूसरोंके द्वारा दिये हुए कपड़ोंकी अपेक्षा परिमाणमें कम उपयोगमें आनेवाले, कम घिसनेवाले और कम फटनेवाले होते हैं। अपने हाथका धोया कपड़ा दूसरोंके धोये हुए कपड़ोंकी अपेक्षा कम और देरीसे मलीन होता है। दानसे प्राप्त घी, दूध, पुस्तक, कागज, पेन्सिल और सुँघनीकी अपेक्षा स्वश्रम या मजदूरीसे प्राप्त वस्तुएँ परिमाणमें कम उपयोगमें आती हैं और उनका बिगाड़ भी कम होता है। दूसरे लोग जो पगचंपी और तेलमर्दन करते हैं उसकी अपेक्षा यदि स्वयं अपने हाथों ही ये कार्य किये जायँ तो उसमें सुखशीलताका पोषण कम होगा। इसलिए विवेकपूर्वक स्वीकृत स्वश्रम व्यावहारिकता और सच्ची आध्यात्मिकताका मुख्य लक्षण और पोषक है।

सदैव दूसरोंके हाथों पानी पीनेवाली और दूसरोंके पाँवोंसे चलनेवाली रानी या सेठानीसे यदि स्वयं पानी भरने या पैदल चलनेके लिए कहा जाय, अथवा ऐसा प्रसंग उपस्थित हो जाय, तो पहले तो उसके स्नायु ही ऐसा करनेके लिए इंकार करेंगे; और फिर बड़प्पन और प्रतिष्ठाका भूत भी इस कामके करनेमें बाधक होगा। राजा-महाराजा और धनिक जो कि स्वश्रमके आदी नहीं हैं, उन्हें यदि श्रम करनेके लिए बाध्य किया जाय तो प्रारंभमें उन्हें भी बहुत बुरा लगेगा। यद्यपि जैन साधु इतने अधिक सुकुमार या पराश्रयी नहीं होते हैं, फिर भी उनमें परापूर्वका एक भूत घुसा हुआ है, जो कि उन्हें स्वश्रमका विचार करते ही क्षुब्ध कर डालता है और इस विचारको आचरणमें लाते समय उन्हें कँपा देता है। परन्तु इस समय प्रति दिन बढ़ती जानेवाली त्यागकी विकृतिको रोकनेके लिए स्वश्रमके तत्त्वके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं दिखाई देता। इसलिए उसका इस उपायको अपनाने अथवा वनवास जैसी स्थितिको स्वीकार करनेमें ही त्राण है। अब त्यागकी मूर्तिके ऊपर भोगके सुवर्ण अलंकार अधिक समय तक शोभित नहीं रह सकते।

पर्युषण-व्याख्यानमाला
अहमदाबाद, १९३१ } अनुवादक—**महेन्द्रकुमार**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org